



भारत की सांस्कृतिक धरोहर : ललित कलाओं का सर्वेक्षण

डॉ० अलका चदढा
वरिष्ठ प्रवक्ता
चित्रकला विभाग
आर० जी०(पी०जी०) कालिज, मेरठ
कु० विभा लोधी
शोध छात्रा
चित्रकला विभाग,
आर० जी०(पी०जी०) कालिज, मेरठ

संस्कृति और कला में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । किसी भी देश की संस्कृति आध्यात्मिक, वैज्ञानिक वे कलात्मक उपलब्धियों की प्रतीक होती है । संस्कृति एवं कला उस सम्पूर्ण देश के मानसिक विकास को दर्शाता है साथ ही कला संस्कृति की पोषक एवं संरक्षिका भी है । यदि कला को संस्कृति का दर्पण कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

यद्यपि संगीत और कला दो ऐसे विषय हैं जिन्हें संवेगात्मक या इमोशनल माना गया है । किन्तु जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, प्रागैतिहासिक काल और वर्तमान काल को छोड़कर कम से कम दृश्य कला में तो पूर्ण संवेगात्मकता के साथ व्यवसायिक का समावेश भी रहा है । आजीविका से जुड़े होने के कारण इस पर शिल्प का कौशल प्रभावी रहा है ।

दार्शनिकों के अनुसार कला चाहे कोई भी हो यथा—चित्रकला, मूर्ति कला, नृत्य कला अथवा हस्तकला जिस युग की है उसके माध्यक से हमारी संस्कृति का बोध होता है उदाहरणतः रामायण तथा महाभारत कथा को हर युग के कलाकारों ने अपनी कला के माध्यक से प्रस्तुत किया है, उसे अपने चित्रों का विषय बनाया एवं उसका मंचन भी किया । यद्यपि कलाकारों ने अपनी सोच तथा कल्पना के आधार पर उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य किये हैं परन्तु अर्थ वहीं है इस प्रकार कलाकार की कला, संस्कृति के परम्परागत रूप से दर्शाती हुई, परिवर्तन ग्रहण करती हुई, विकासोन्मुख रही है अर्थात् किसी देश के सांस्कृतिक विकास से तात्पर्य उस देश की कलाओं के विकास से है ।

कला मानव संस्कृति की देन है । इसका जन्म मानव की सौन्दर्य भावना का स्रोत है । सौन्दर्य भावना की अभिव्यक्ति के लिये ही विभिन्न कलाओं का विकास हुआ है । कला का शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु का छोटा अंश । कला धातु से 'ध्वनि' व शब्द का बोध होता है । ध्वनि से आशय है क, ला, क = कामदेव – सौन्दर्य, हर्ष व उल्लास, ला = देना, 'कलांति ददाति कला' अर्थात् सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु ही कला है ।¹

आधुनिक दार्शनिकों ने कलाओं को दो भागों में विभाजित किया है । उपयोगी कला और ललित कला । उपयोगी कला मानव समाज के लिये उपयोगी होती है । ललित कला सौन्दर्य प्रधान होती है । ललित कलाओं का नामकरण पाश्चात्य सम्पर्क की देन है । पाश्चात्य विद्वानों (हीगेल) ने ललित कलाओं के अर्न्तगत पाँच कलायें मानी हैं— स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य कला । इनमें काव्य कला अर्थ प्रधान, संगीत कला ध्वनि प्रधान और चित्र तथा मूर्ति कलायें रूप प्रधान है ।

प्राचीन समय से सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त करने के विभिन्न माध्यमों का प्रयोग मानव पीढ़ी दर पीढ़ी करता चला आया है और इन माध्यमों में कला एक विशिष्ट माध्यम है । कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भारत अत्यन्त समृद्ध एवं वैभवशाली रहा है । कला के अन्तर्गत चित्रकला तथा मूर्तिकला प्रमुख है और सभी कलाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारत के जनजीवन में केवल प्रागैतिहासिक युग से ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी इनका विशेष महत्व दृष्टिगोचर होता है ।

यद्यपि संगीत को शास्त्रों से अत्यधिक जुड़ी हुई विधा माना गया है किन्तु शास्त्रों से बँधे रहने के कारण संगीत में बाह्य प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता बहुत ही सीमित और नहीं के बराबर है । जबकि चित्रकला और मूर्तिकला का खुलापन और व्यक्तिपरक होता स्वरूप इसे रूढ़ियों से तोड़कर विकास की ओर उन्मुख करता है । साथ ही संगीत में व्याकरण से जुड़ने के कारण कौशल का विकास तो होता है किन्तु कलाकार के व्यक्तित्व का जुड़ाव सृजन से नहीं हो पाता है । यह तभी संभव होता है जब उन्हें प्रदर्शन अथवा प्रस्तुति के लिये श्रोताओं से रूबरू होने का अवसर मिलता है ।

इस तथ्य को इंकित करने हुये सुरेन्द्र पाण्डये जी ने लिखा है – "वस्तुतः संगीत में सृजन का क्षण वहीं होता है, जब संगीतकार अपने श्रोताओं के आमने सामने बैठकर प्रदर्शन करता है तो उसके सृजन पर श्रोताओं से भावों के आदान- प्रदान का और संगीतकारों की क्षमता का भी असर होता है । संगीत में वस्तुतः सृजन के अवसर भी सीमित है । यूरोपीय संगीत को लें पूरा का पूरा संगीत स्वर लिपि के आधार पर चलता है । मौजार्ट की बनाई गई स्वर लिपि में किसी को भी कहीं कुछ छूने की गंजाइश नहीं है । वैसा ही भारत में रविन्द्र संगीत के साथ भी है । संगीत की कर्नाटकी परम्परा में भी समर्थ संगीतज्ञों की बनाई स्वरलिपियों से यत्किंचित भी हटने की गुंजाइश नहीं देती है । यद्यपि हिन्दुस्तानी संगीत में अलाप की अवधारणा और राग विस्तार की गुंजाइश फिर भी सृजन के बहुत सारे अवसर देती है । दृश्य कलाओं के साथ तो ऐसा कुछ नहीं होता है । यह पूरी सृजन क्रिया एकान्त में एक लम्बे समय तक टुकड़ों-टुकड़ों में चलने वाली सृजन क्रिया है ।

सृजन की प्रारम्भिक अवस्था तो मात्र कौशल की अवस्था है । ऐसे में चाक्षुष कला में परम्परा और तकनीक से तो जोड़ती है, किन्तु परिस्थितियों के अधीन नित्य ही बदलने वाले दर्शकों के भावों से साक्षात्कार नहीं करा पाती है । तभी यह कौशल सीखने के लिए महाविद्यालयों की शिक्षा तकनीक से जुड़ने की आवश्यकता होती है ।²

हमारे देश में डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कला शिक्षण की विद्यालयी व्यवस्था प्रारम्भ हुई थी और जहाँ तक कला में विद्यालयी शिक्षा का प्रश्न है यह शिक्षण व्यवस्था अंग्रेजों के शासनकाल की देन है । अंग्रेजी शासन के परिणाम स्वरूप कला में यूरोपीय तकनीक का प्रयोग प्रारम्भ हुआ । अतः चित्रकारों द्वारा अंग्रेजी तकनीकी पद्धति को अपनाया गया तथा कुछ कलाकारों ने कला को विकसित करने हेतु कला शिक्षा ग्रहण की । जबकि संगीत की विद्यालयी शिक्षण व्यवस्था केवल सत्तर वर्ष पूर्व ही आरम्भ हो पाई थी । इस समय संगीत शिक्षा को जहाँ शास्त्रों की शुद्धता से जोड़ा गया था वहीं कला के शिक्षण को जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ा गया ।

कला शिक्षण हेतु शिक्षण संस्थान सर्वप्रथम मद्रास में सन् 19502 में विद्यालय रेजीमेन्ट के शल्य चिकित्सक डा० एलेक्जेंडर हन्टर द्वारा स्थापित किया गया और इसके प्रधान शिक्षक श्री ई० बी० हैवेल नियुक्त किये गये और दूसरा कला विद्यालय कलकत्ता में खोला गया । यहाँ के आरम्भिक शिक्षक रिकार्ड, एक्यार, फाउलर तथा हैवले आदि थे । कुछ समय पश्चात् मद्रास स्कूल के प्रधानाचार्य श्री ई०वी० हैवेल स्थानान्तरित होकर कलकत्ता आये और इन्होंने कविवर अवनीन्द्र नाथ टैगोर को कलकत्ता कला विद्यालय में अपने सहयोगी के रूप में आमन्त्रित किया । उन्होंने अवनीन्द्र नरथ टैगोर की उपप्रधानाचार्य के पद पर नियुक्त करा दिया । इसके बाद बम्बई में एलफिनस्टोन इन्स्टीट्यूशन में प्रसिद्ध पारसी उद्योगपति सर जमशेद जी जीजी भाई टाटा के उदार अर्थदान से 2 मार्च सन् 1857 को बम्बई कला विद्यालय में कला की कक्षाएँ आरम्भ की गई । सर्वप्रथम यहाँ लॉकवुड किपलिंग प्रधानाचार्य बने । इसके पश्चात् सन् 1875 में मेयो स्कूल ऑफ आर्ट लाहौर कला विद्यालय का आरम्भ अलंकारिक तथा उपयोगी कलाओं की उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान करने के लिए किया गया । अवनीन्द्र नाथ टैगोर के शिष्य समरेन्द्रनाथ गुप्त के प्रधानाचार्य बनने से लाहौर कला विद्यालय में बंगाल शैली का प्रभाव बढ़ा । इसके बाद लखनऊ में कला तथा शिल्प विद्यालय की स्थापना की गई । यहाँ पर प्रथम प्राचार्य के रूप में एक अंग्रेज श्री नेटहार्ड की नियुक्ति की गई । इसके बाद श्री असित कुमार हालदार यहाँ के प्रधान शिक्षक बने जो अवनीन्द्र नाथ टैगोर के शिष्य थे । तदोपरान्त इन्दौर कला महाविद्यालय आरम्भ हुआ जो कला जगत में महत्वपूर्ण माना जाता है । इस संस्था के आरम्भिक शिक्षक श्री दत्तात्रेय दामोदर देवलालीकर थे जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कला के शिक्षण और सृजन के लिए समर्पित कर दिया ।³

वही संगीत की विद्यालयी शिक्षा की व्यवस्था भी दो अलग अलग शास्त्रियों कल अलग-अलग अवधारणाओं के अनुसार की गई थी । आचार्य विष्णु दिगम्बर ने लाहौर में पहला विद्यालय आरम्भ किया था । दूसरी विचारधारा के आचार्य रत्नंजकर ने लखनऊ में संगीत विद्यालय की आधारशिला रखी थी । कला और संगीत दोनों की ही विद्यालयी शिक्षा की अवधारणा प्रारम्भ से

ही अलग-अलग रही है । कला शिक्षण के साथ प्रारम्भ से ही व्यवसायिकता जोड़ी गई थी, वहीं संगीत शिक्षण की अवधारणा शास्त्रों की शुद्धता पर आधारित है ।⁴

भारतवर्ष की आज की परिस्थितियों में एक और हमारे सामने कला तथा शिल्प की शिक्षण संस्थाएँ, उद्योगोन्मुख समाज में ऐसी संस्थाएँ हैं जो ब्रिटिश युग में कारीगर तैयार करने के उद्देश्य से खोली गई थी । वहीं दूसरी ओर कविवर अनीन्द्र नाथ टैगोर तथा कुछ अन्य कला मनीषियों के प्रयत्न से भारतीय विधि से गुरु, शिष्य परम्परा में कला की शिक्षा देने हेतु खोली गई शान्तिनिकेतन, जैसी कला शिक्षण संस्था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात कला शिक्षा पद्धति पर पुनर्विचार हुआ । पालीटेक्निक विद्यालय खोले गये । पालीटेक्निक संस्थाओं में सात वर्ष अथवा पाँच वर्ष के पाठ्यक्रम आरम्भ हुये जिसमें चित्रकला, मूर्तिकला तथा प्रयोजन मूलक कलाओं का समावेश किया गया । सिरेमिक्स, पात्रकला, कांस्य ढलाई, मूर्ति टेरेस्ट्री आदि में समन्वित प्रयोग आरम्भ हुये ।

इतिहास साक्षी है कि कलाकार सदैव नवीनता हेतु नये-नये प्रयोग करता आया है और कुछ कलाकारों ने संगीतात्मकता को दृश्य कला से जोड़ा है । कान्डिस्की के जल रंग के प्रयोग इस क्षेत्र में विशेष महत्व रखते हैं । शौपेन हॉवर भी दृश्य कला में संगीत के सामंजस्य को सौन्दर्य की वृद्धि का कारक मानते हैं । संगीत की दृश्य कला के साथ चर्चा करते हुये कुछ वर्ष पूर्व लंदन में इस क्षेत्र में नये प्रयोग हुये जिसमें दृश्य कला में इलेक्ट्रानिक यन्त्रों के माध्यम से रूपाकारों को प्रक्षेपित किया गया । यद्यपि दृश्य अभिव्यक्ति के पार्श्व में साउण्ड का प्रयोग दर्शक के समक्ष एक नवीन परिवेश प्रस्तुत करता है । मात्र संगीत के सूक्ष्म स्वर समान ही चित्रकला में एक बिन्दु भी कलाकार के अनुभवों को, जीवन के यथार्थ सतय को छोटे से धरातल पर दर्शाने में समर्थ बन जाता है अर्थात् दृश्य कला में हम जिस प्रेरणा से, शक्ति अभिव्यक्ति की त्रिवेणी की बात करते हैं वहीं साहित्य में भी है, वहीं काव्य में भी है और संगीत में भी है ।

आधुनिक युग में विभिन्न कलाओं और संगीत में परम्परा संस्कृति के साथ-साथ नयेपन का समावेश भी देखने को मिलता है । जैसे पॉप आर्ट, ऑप आर्ट, पॉप म्यूजिक, ग्राफिक्स कलाएँ, फोटोग्राफी, औद्योगिक डिजाइनिंग मोजेक म्यूरल्स आदि। अर्थात् हम कह सकते हैं । कि आज के युग (उद्योगोन्मुख समाज) में संगीत एवं ललित कला एक -दूसरे से सम्बद्ध है क्योंकि दोनों ही मनुष्य के हृदय को शान्ति देने वाली हैं । साथ ही कलाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिये अनेक माध्यमों को प्रयोग किया है और यह प्रक्रिया प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समय में अनवरत रूप से जारी है । जल रंग व तैल रंग यद्यपि सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम हैं फिर भी इनके परे जाकर कलाकारों ने नये-नये संसाधन खोजे । परम्परागत माध्यमों के विरुद्ध आधुनिक समय में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का प्रयोग चित्रों में होने लगा । अब चित्र डिजिटल युग में आ गये । चित्रों की रचना में कलाकारों के हाथ की जगह मशीनों या कम्प्यूटर ने ली और कला शिलाओं से चलकर कम्प्यूटर स्क्रीन तक पहुँच गई ।

आज नवीनता की खोज में कलाकारों ने माध्यम को पीछे छोड़ दिया है । आज यदि मानव चाँच पर पहुँच चुका है तो कला भी सातवें आसमान पर पहुँच चुकी है जहाँ स्वयं कलाकार के

अतिरिक्त सम्भवतः अन्य कोई भी नहीं पहुँच सकता । हाँ, पहुँचने का बहाना भले ही कोई करें किन्तु आज का कलाकार इस लक्ष्य को इंगित कर रहा है । जो उसने कभी देखा नहीं, सुना नहीं, वह उसे अपने चित्रों को विषय बना रहा है । यद्यपि आज की कला को देखकर कभी ऐसा ही महसूस होता है कि मानव को सांस्कृतिक परम्पराओं से विशेष सरोकार नहीं रहा है । उनकी रचनाओं में रंग और टैक्चर का प्रभाव बढ़ा है । कलाकार औद्योगीकरण के इस युग में मशीनीकरण से प्रभावित होकर नये-नये प्रयोग कर रहा है । किन्तु आज की कला का स्वरूप बीसवीं सदी के औद्योगिक, वैज्ञानिक और तकनीकी अभ्यता के अनुरूप है । अतः इस प्रकार इन कलाओं को बढ़ावा देना आज की यथार्थता बन गई है ।

सन्दर्भ

1. डॉ० रीता प्रताप (वैश्य) – भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास । पृ०-7 जयपुर 2004
2. डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय – भारत में कला शिक्षण के प्रयास आधुनिक सन्दर्भ में । पृ०2
3. डॉ० जी० के० अग्रवाल – आधुनिक भारतीय चित्रकला, पृ० – 19 से 21 तक –आगरा 1991
4. डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय – भारत में कला शिक्षण के प्रयास आधुनिक सन्दर्भ में । पृ०-3